
प्रवचन नं. १२ गाथा-२ ता. १९-६-७८ शनिवार जेठ सुद-१४ सं.२५०४

फिर से... जब यह जीव, जीव की व्याख्या तो की पहले सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ - ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदविज्ञान ज्योति का उदय होने से... आत्मा में राग से और विकल्प से... 'भेदज्ञानज्योति' - ऐसा शब्द प्रयोग किया है। यह राग शरीर और कर्म से भिन्न परंतु अस्तित्व उसका चैतन्य ज्योति 'भेदज्ञानज्योति'... ऐसी भेदज्ञान ज्योति का उदय होता है, प्रगट होती है। इस भेदविज्ञान ज्योति से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। आहाहा ! आत्मा की पूर्ण मोक्ष दशा अर्थात् पूर्ण दुःख से रहित दशा और पूर्णअतीन्द्रिय आनंद के लाभ की दशा, वह भेदज्ञान से उत्पन्न होती है। व्यवहार के राग के संबंध से केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। आहाहा !

यह तो धीर-गम्भीर लोगों की बात है भाई ! यह 'भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से... देखो ! यहाँ भेदज्ञान ज्योति शब्द प्रयोग किया है... सर्व परद्रव्यों से छूटकर... रागादि सभी परद्रव्य उनसे छूटकर 'दर्शनज्ञानस्वभाव में'... दर्शनज्ञान - ऐसा जो स्वभाव-ऐसा जो उसका निश्चय अस्तित्व, दर्शन और ज्ञान - ऐसा जिसका अस्तित्व... मौजूदगी (उपस्थिति)। भगवान आत्मा ज्ञाता दृष्टा, ऐसी जिसकी सत्ता है-मौजूदगी दर्शन और ज्ञान की सत्ता है। यह - ऐसा आत्मतत्त्व... आहाहा ! उसके साथ एकत्वरूप रहे एकत्व परिणमनरूप में अंदर वर्ते। आहाहा ! राग से और विकल्प से भेदज्ञान ज्योति के द्वारा भिन्न करके और केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली तो यह एक ही वस्तु है, आहाहा ! **व्यवहार रत्नत्रय केवलज्ञान उत्पन्न करने का कारण नहीं। कहीं कहा हो तो वह उपचार से कथन, (किया है) निश्चय के साथ व्यवहार को सहचर देखकर, साथ देखकर, इसका उसमें उपचार किया होता है।** वस्तुस्थिति यह है। आहाहा !

तब इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से आत्मतत्त्व जो दर्शन और ज्ञान के अस्तित्ववाला तत्त्व है, ज्ञाता और दृष्टा इसस्वभाववाला जो अस्तित्व मौजूदगी वस्तुतत्त्व है। इसमें जो, है न ? 'एकत्वगतवर्ते' - ऐसा भगवान आत्मा एकपने राग से भिन्न और स्वभाव में एकत्वपने वर्ते, तब दर्शनज्ञान चारित्र में स्थित होने से, चैतन्य ज्ञान और आनंद स्वरूप, उसकी सत्तावाला तत्त्व... विद्यमान पदार्थ उसमें एकरूप जब रहे तब वह दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होने से, तब वह सम्यग्दर्शनज्ञान और चारित्र में स्थित है। समझ में आया ? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

जिसको केवलज्ञान अर्थात् मुक्ति... मोक्ष जिसे उत्पन्न करना है, उसे भेदज्ञान

ज्योति से वह उत्पन्न होता है। वह राग के व्यवहार के, व्यवहार श्रद्धाज्ञानचारित्र, उससे भिन्न करे, तब वह भेदज्ञान ज्योति द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये वह आत्मा में दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित हुआ होने से... आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात है, धरम बहुत सूक्ष्म है। आहाहा !

दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होने से... 'देखो पाठ में 'चरितदंसणणाण' था। परंतु मूल में तो पद्य में रचना करने के लिये, जो मूल था वह अर्थ में इसप्रकार आया। अर्थ करनेवाले ने दर्शनज्ञानचारित्र लिया और टीका में अमृतचन्द्र आचार्य ने भी - ऐसा लिया; वहाँ - ऐसा नहीं लिया चारित्र दर्शनज्ञान।

क्या कहा यह ? 'जीवो चरितदंसणणाण द्विदो' - ऐसा आया न मूल पाठ में उसका अर्थ - ऐसा किया जीव जब अपने में एकत्वपने दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होकर वर्ते तब उसे आत्मा, स्वसमय आत्मा कहा जाता है। वह जैसा उसका रूप था उसमें यह आया। आहाहाहा !

भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान स्वरूप उसका रूप, यह उसकी उपस्थिति है। यह बाहर के रागादिक के विकल्प से भेद करके और अपने आत्मतत्त्व में एकत्वरूप आया... रागादि में जाता वहाँ वह बिगड़ता, एकड़े एक और बगड़े बे यह आत्मतत्त्व वस्तु है उसमें एकत्वगत पने, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित... यह एकत्व। पुण्य तथा दयादान व्रत के राग में स्थित, यह तो दोपना बिगड़ना है। वह कर्म में स्थित है, कर्म के रसरूप भाग में स्थित है, यह आत्मा दर्शनज्ञान जिसका रस है, जिसका स्वभाव है, उसमें वह स्थित नहीं। ऐसी बात है।

तब दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होने से 'एकसाथ स्व को एकत्वपूर्वक जानता हुआ' एक साथ आत्मा को एकत्वरूप जानता और 'स्व-स्वरूप एकत्वपूर्वक परिणमता - ऐसा जब एकत्वरूप वर्ते प्रभु आत्मा, तब वह 'दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होने से' जीव दर्शनज्ञान चारित्र में स्थित होने से, एकसाथ स्व को एकत्वपूर्वक जानता, एक साथ अपने को जानता और स्व स्वरूप एकत्वपूर्वक परिणमता, 'जानता और परिणमता' समय का अर्थ करना है... एक समय में जाने और परिणमे ऐसी पीडा है, वह आत्मा है। दूसरी चीज परिणमती है परंतु जानती नहीं। अर्थात् वास्तव में समय उसे कहें कि स्वयं स्वयं के स्वरूप को जानता हुआ परिणमें और परिणमता हुआ जाने यह दोनों के एक साथ हों उसे आत्मा कहा जाता है। आहाहा !

अब इन लोगों में ज्यादा तो यह (मानते हैं) निश्चयचारित्र है वह व्यवहार चारित्र से प्राप्त होता है। (श्रोता :- वह पहुंचाता है) क्या पहुंचाये वह कल आया था न ? (श्रोता :- व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र है) - ऐसा है नहीं। (व्यवहार) आता है।

स्वरूप की एकत्वगत की, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्थिति में, अपूर्णदशा में, व्यवहार के पंचमहाव्रत के आदि विकल्प होते हैं, परंतु उनसे निश्चय की प्राप्ति होती है - ऐसा नहीं, और - ऐसा कहीं कहा हो तो वह निमित्त का ज्ञान कराने को कहा है, उससे होता है - ऐसा कहने के लिये नहीं। आहाहा ! यहाँ कहाँ तक पहुंचना है उसे !!

'स्व-रूपे को एकत्वपूर्वक परिणमता' है न...? यहाँ समय का अर्थ किया, जानना और परिणमना... पहले कहा था न ? सम उपसर्ग और सम गमन अर्थ में भी है और ज्ञान अर्थ में भी है। पहले कहा था यहाँ उसका सार बताया है।

जिस समय जानता है उसी समय परिणमता है। आहाहा ! अथवा जिस समय ज्ञान होता है, उसी समय उसे जानता (है) आहाहा ! प्रारंभ की गाथायें तो महत्व की है ! संक्षेप में बहुत भर दिया है, बाद में १३ वीं गाथा में विस्तार से तो करेंगे। आहाहा !

आत्मा दर्शन ज्ञान में अस्तित्वरूप तत्त्व है, उसमें जो एकत्वरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो, वह जीव उसी समय दर्शनज्ञान चारित्ररूप परिणमता है और उसी समय उसे जानता है। समझ में आया ? है न सामने ? यह तो उन्नीसवीं बार बांचा जा रहा है समयसार। (श्रोता :- सभी के लिये उन्नीसवीं बार नहीं आपके लिये है) बहुत तो यहाँ होंगे कि नहीं ?, कितने ही नहीं हो, जो विशेष उत्सव पर आते हैं वे नहीं होगा। जो यहाँ कायम रहनेवाले है वे होंगे। आहाहा !

'- ऐसा वह स्वसमय' ऐसी प्रतीति कराई जा रही है, आहाहा ! भगवान आत्मा दर्शन तथा ज्ञान की सत्तावाला तत्त्व जिसमें विकार की मौजूदगी तीनकाल में है ही नहीं। - ऐसा जो भगवान स्वभाव वह दर्शनज्ञान में (स्थित) - ऐसा तत्त्व है, उसमें एकत्वपने अर्थात् ? राग का सहारा लेकर नहीं, राग से भिन्न करके... एकत्वपने, आहाहा ! वहाँ राग से भिन्नपना लेकर... यहाँ राग मंद है अतः आत्मा में एकत्व होता है - ऐसा नहीं। तब तो भिन्नपना नहीं हुआ। आहाहा !

यहाँ तो राग के विकल्प की जाहे जैसी वृत्ति हो... देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धारूप राग वृत्ति हो, कि शास्त्र के ज्ञान का विकल्प हो... उन सबसे भिन्नरूप - ऐसा है न ? आहाहा ! एकत्वपूर्वक जानता (और) एकसाथ परिणमता दर्शनज्ञान चारित्रस्वरूप और उसी समय ही उसे जानने स्वरूप एकत्वरूप परिणमता - ऐसा वह 'स्वसमय' ऐसी प्रतीति की जाती है श्रद्धा की जाती है। यह वस्तु स्वयं दर्शन ज्ञान वस्तु... उसमें एकत्व करके श्रद्धा ज्ञान और चारित्र में स्थित हुये वह स्वसमय है - ऐसी प्रतीति कराई जाती है। - ऐसा आत्मा वह स्वसमय हुआ, जैसा था वैसा हुआ, दर्शनज्ञानरूप

था, ऐसी ही पर्याय में दर्शनज्ञान की प्रतीति, दर्शनज्ञान का ज्ञान, दर्शनज्ञान में स्थिरता। आहाहाहा ! युगपत स्व को एकत्वपूर्वक (जानता), परिणमता - ऐसा वह स्वसमय है - ऐसी प्रतीति की जाती है, पाठ - ऐसा है न ? 'स्वसमय जाण' - ऐसा कहा न ? कुन्दकुन्दाचार्यने - ऐसा शब्द लिया है, उसे स्वसमय जानो।

- ऐसा जो भगवानआत्मा (का) स्वरूप, उसमें जो एकत्वरूप दर्शनज्ञानचारित्र में पर के साथ और मदद बिना, स्वरूप में दर्शनज्ञानचारित्र में, अपने अस्तित्व में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में वर्ते उसे तुम स्वसमय जानो। उसका यहाँ अर्थ किया कि प्रतीति की जाती है (कि) यह आत्मा - ऐसा है वह स्वसमय है - ऐसा जानने में, प्रतीति करने में आती है। आहाहा !

अब इसे कहाँ पहुँचना है ? सारे दिन व्यवहार की बातें करता है ? व्यवहार... व्यवहार व्यवहार बीच में आये, परंतु यह व्यवहार भी जिसे निश्चय की भावना है, वह व्यवहार निश्चय को पहुँचाये। परंतु भावना का क्या अर्थ ? आहाहा ! बहुत सूक्ष्मबात भाई ! (श्रोता :- भूमिका के योग्य आये) भूमिका के योग्य आता है, होता है अवश्य है न ! नहीं हो - ऐसा नहीं। परंतु इससे (क्या) वह निश्चय की प्राप्ति कराता है ? जिसे एकत्व हो वह पहुँचा सकता है ? दोपना साथ में ले वह पहुँचाता है ? (ना) आहाहा ! व्यवहार आता है बीच में वह बंध का कारण है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंचमहाव्रत आदि का राग, शास्त्र का, शास्त्रों को पढ़ने का विकल्प वह सभी आता है, परंतु है यह बंध का कारण। बंध के कारण को साथ में लेकर निश्चय की प्राप्ति हो - ऐसा नहीं। उससे भेद करके, भिन्न करने से निश्चय प्राप्त होता है। फिर भी वह व्यवहार आये बिना रहे नहीं। पूरण वस्तु न हो वहाँ व्यवहार आये, स्वसमय हो तो उसे कहें। आहाहा ! अपना दर्शनज्ञानस्वरूप के अस्तित्व में परिणमन, श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्ररूप में हुआ उसे 'स्वसमय' जानना चाहिए। उसे स्वसमय प्रतीति करनेमें उसे आता है। ऐसे जीव को मोक्षमार्ग है - ऐसा श्रद्धान किया जाता है। आहाहा !

'जीवो चरित' जीव कहकर 'चरित दंसणणाण द्विदो' अर्थात् दर्शनज्ञान चारित्र में (जो) स्थित वह 'स्वसमय' जानो, इतने का अर्थ हुआ। दो पद का, अब तीसरे पद की (व्याख्या)।

परंतु जो अनादि अविद्यारूप जो - ऐसा संसार... केला के मूल (जैसा) आहाहा ! अपना पूर्ण दर्शनज्ञानस्वरूपी प्रभु (आत्मा) ज्ञातादृष्टा की उपस्थितिवाला भगवान, उसके अज्ञान के कारण, आहाहा ! उस स्वरूप के भान बिना, 'अनादि अविद्यारूप केले की गांठ', गांठ वह जिसमें से केले के वृक्ष होते हैं न ? उसकी जड़ जो गांठ

जैसी (होती) है केला की मूल की गांठ उसमें से, बहुत केले उगते हैं, निकलते ही रहते ! गांठ हो केला की उसमें से केले के वृक्ष होते ही रहते हैं। आहाहा !

अज्ञानरूपी केले के जड़ की गांठ जैसा, मोह ! जैसे केले की गांठ में अनेक केला होने की ताकत है, केला की गांठ होती है न ! बड़ी गठान, उसमें अनेक केला (के वृक्ष) उगें। गठान की बात है केला की बात नहीं, केले (उगें) इसीप्रकार मोहरूपी गांठ उसमें अनंतभव फलें - ऐसा यह मोह है। आहाहा !

अनादि अज्ञानरूपी जो गठान, वह केला की जड़ की गांठ जैसा पुष्ट हुआ है, आहाहा ! मोह, जिसके उदय अनुसार... उसे जो कर्म का उदय है, उसको अनुसरण करके स्वयं आधीन होकर प्रवर्त... वह उदय उसे प्रवर्तये - ऐसा नहीं, परंतु उदय के अनुसार स्वयं प्रवृत्ति के आधीनपने के कारण (प्रवर्तता है) आहाहा !

जो यहाँ स्वभाव की आधीनता से दर्शनज्ञान और चारित्र में स्थित होना चाहिए - ऐसा न करके निमित्त जो कर्म का उदय, उसके अनुसार से प्रवृत्ति की आधीनपने से, आहाहा ! कर्म के अनुभाग के निमित्त के अनुसार स्वयं आधीन होकर प्रवृत्ति करता है, कहीं उसे कर्म कराता नहीं। आहाहा ! उसके उदयानुसार प्रवृत्ति के आधीनपने से, दर्शनज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप... वहाँ कहा था न 'नियतवृत्तिरूप अस्तित्व', उसमें प्रवृत्ति कही। 'नियतवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से' दर्शनज्ञानस्वभाव में निश्चय अस्तित्वरूप आत्मतत्त्व, आत्मतत्त्व उसे कहें कि जो ज्ञान दर्शन में अस्तित्व से रहता है, दर्शनज्ञान - ऐसा जो निश्चय... उसका जो टिकना, उसका जो आत्मतत्त्व। वह दर्शनज्ञान में टिकता हुआ आत्मतत्त्व है। आहाहा ! समझ में आया ?

दर्शनज्ञान स्वभाव में नियत निश्चय होनेपनेरूप आत्मतत्त्व... दर्शनज्ञान स्वभाव में निश्चयरूप रहता हुआ आत्मतत्त्व... उससे छूटकर, मोह की प्रवृत्ति के उदय अनुसार आधीनपने के कारण... निमित्त के उदय के आधीनता से। आहाहा ! है ? आत्मतत्त्व से छूटकर, (जो) कर्म के उदय के आधीनता से प्रवर्तता है, वह आत्मतत्त्व से छूटा था। आहाहाहा ! स्वरूप जो दर्शनज्ञानस्वरूप है, दृष्टाज्ञाता जो आत्मतत्त्व है, उससे छूटा और मोह की गांठ, जैसा केले की गांठ मोह, उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र में प्रवर्तता हुआ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग। आहाहा !

यह तो अंतरंग की बातें हैं बापू, कहीं अभी बाहर में मिले - ऐसा नहीं। आहा ! और बाहर में व्यवहार में यह है - ऐसा कहा न ? यह तो दर्शनज्ञानस्वभाव अस्तित्व में आत्मतत्त्व है। भगवान आत्मा, दर्शनज्ञानमय सत्तावाला आत्मतत्त्व है। ऐसे सत्तावाले तत्त्व को छोड़कर... जिसकी प्रवृत्ति मोह के अनुसार है, वह स्वद्रव्य से च्युत होजाता

है। आहाहा ! समझ में आया ?

‘परद्रव्यों के निमित्त से आत्मतत्त्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से निमित्त से, हो ? मोह, राग, द्वेष आदि भावों के साथ... निमित्त से का अर्थ **निमित्त कहीं (मोहरागद्वेष) उत्पन्न कराता नहीं, परंतु यहाँ इस तरफ (स्वतरफ) एकाग्र नहीं, इसलिये निमित्त तरफ एकाग्र है।** आहाहा ! परद्रव्य के निमित्त से, लोग यहाँ ज्यादा जोर देते हैं ‘परद्रव्य के निमित्त से होता है, देखो निमित्त से (कहा है)।’ निमित्त का अर्थ क्या ? परद्रव्य है उसके तरफ के झुकाव से, स्वद्रव्य से च्युत होने से, और परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भाव... आहाहा ! यहाँ लिया तो फिर उन प्रारंभ के तीन में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और यहाँ मोह-राग-द्वेष उस आदि में तीन आते हैं। आत्मतत्त्व से छूटकर दर्शनज्ञान की मौजूदगीवाला प्रभु (निजात्मा), उसकी आस्था, श्रद्धा, ज्ञान से छूटकर और मोह जो है उसके अनुसार आधीन रूप प्रवर्तता हैं।

निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भाव के साथ... मिथ्यात्व, राग और द्वेष रतिवासना आदि के साथ एकत्वपने मानकर... इसका अर्थ किया - उसमें सम्मुख लिया, एकपना मानकर वर्तता है। यह मिथ्यात्व में राग वह हमारी वस्तु है - ऐसा मिथ्यात्व में एकत्वरूप वर्तता है, और राग में एकत्वरूप वर्तता है द्वेष में एकरूप वर्तता है। जो आत्मतत्त्व दर्शनज्ञानमय, उससे भिन्न होनेपर भी एकरूप वर्तता है, उसका नाम मिथ्यात्व तथा मोह, राग, द्वेष है। आहाहा ! एकरूप वर्तता है ‘तब, पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होने से’ देखा ! मोह, राग, द्वेष में वर्तता है वह पुद्गल में स्थित कहा जाता है। यहाँ जो भगवान आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के एकत्व में जो स्थित था, उससे छूटकर... निमित्त के आधीन होकर, मोह-राग-द्वेष के प्रदेशों में (स्थित हुआ) इसे पुद्गलकर्म का प्रदेश कहते हैं। मोह, राग, द्वेष भी कर्म का ही भाग है, कर्म तरफ के झुकाववाली उपाधि है। आहाहा ! यह मिथ्यात्व और राग, द्वेष, भगवान तो निरुपाधि तत्त्व है... यह तो दर्शन ज्ञानमय निरुपाधि तत्त्व है। निमित्त के आधीन उपाधि तत्त्व के साथ एकत्वरूप वर्तता है उसे अनात्मा कहा जाता है। परसमय कहा जाता है। आहाहा !

‘तब पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होने से... युगपद पर को एकत्वपूर्वक जानता, आहाहाहा ! **यहाँ जानता तो लिया... परंतु मोह को राग, द्वेष को एकत्वरूप से जानता और परिणमता वहाँ (ज्ञानी) भिन्न रूप जानता और परिणमता। आहाहा !**

एक-एक श्लोक की क्या बात है ? आहाहा ! मध्यस्थ होकर विचारे, धीरज से सत्य का शोधक बनके तो यह चीज है ऐसी कहीं है ही नहीं। आहाहा ! युगपद पर को एकत्वपूर्वक जानता आहाहा ! ‘समय’ का अर्थ क्या न ? कि एक साथ

जाने और परिणमे। तब जब स्वसमय में एकाग्र है, तब उसी समय जाने और परिणमे और यहाँ राग के साथ-मिथ्यात्वादि के साथ एकाग्र है, उस-उस समय एकत्वपूर्वक जानता है, मोह और राग हमारा है - ऐसा जानता और उसरूप में एकत्वरूप में परिणमता है। आहाहा ! जानना तो रखा, परंतु जानने में विशेष यह आया, यह 'एकत्वरूप जानता' मोह तथा रागद्वेष के परिणमन को स्वभाव में आत्मा में एकत्वरूप जानता है। आहाहा ! समझ में आया ? वह एकसाथ स्व को 'एकत्वपूर्वक जानता' पहले में - ऐसा था, दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होने से स्व को 'एकत्वपूर्वक जानता', (और परिणमता) यहाँ पर को 'एकत्वपूर्वक जानता'... बस इस प्रकार अस्ति-नास्ति की है।

'युगपद पर को एकत्वपूर्वक जानता' तथा पररूपे 'एकत्वरूपे परिणमता' - ऐसा वह परसमय - ऐसा प्रतीति रूप होता है। **उसे नहीं, दूसरे को... यह आत्मा अज्ञानी है, परसमय है, अनात्मा है, अनात्मा में एकत्वरूप वर्तता है इसलिये परसमय है।**

- ऐसा जानने में आता है। है न ? वहाँ जानीहि 'पोगलकम्म पदेस द्विदं च तं जानीहि' है न ? दोनों में जानना जानना आहाहा ! दोनों में प्रतीति कहा, उसका अर्थ यह है कि जानने में - ऐसा आता है। आहाहा ! एकत्वपूर्वक परिणमता - ऐसा जो पर समय - ऐसा प्रतीतिरूप किया जाता है। अर्थात् कि जानने में यह आत्मा, अनात्मा हुआ - ऐसा जानने में आता है। आहाहा ! राग के विकल्प एक साथ एकत्वपने परिणमता और एकत्वपने जानता, जानना तो रहा, परंतु एकरूप जानता। उसे परसमय - ऐसा जानने में आता है। यह परसमय है। यह अनात्मा है। वह स्वरूप से च्युत होकर जो उसमें नहीं, उसमें वह रहता है इसलिये परसमय कहा जाता है। आहाहा !

यह बात वादविवाद से समझ में आये - ऐसा नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है, फिर कितनी ही बातें शास्त्रों में आती है कोई कथन व्यवहार नय से हो, वह तो ज्ञान कराया है। आहाहा ! वस्तुस्थिति तो यहाँ से प्रारंभ की है, उसका विस्तार बाद में है। आहाहा !

'इसप्रकार जीवनाम के पदार्थ को... जीवनामक पदार्थ तो कहा, पहले गुणपर्यायवाला, उत्पादव्ययध्रुववाला, दर्शनज्ञानवाला, ऐसे जीव पदार्थ को स्वसमय और परसमय - ऐसा द्विविधपना प्रगट होता है, (स्वभाव में) एकत्व हो तो स्वसमयपना प्रगट होता है, राग में एकत्व हो तो परसमयपना प्रगट होता है। एक में दोपना इस प्रकार खड़ा होता है। आहाहा ! वस्तु एक दर्शन-ज्ञानमय प्रभु में (आत्मा में) - ऐसा पर में राग में एकत्व होने से परसमयपना दुविधपना... स्वसमयपना और परसमयपना द्विविधपना उत्पन्न होता है। **एक में दोपना उत्पन्न होना... यह हानिकारक है। आहाहा ! स्व में एकत्वरूप प्रगट होना वह आत्मा को लाभदायक है। आहाहा ! यह भगवान आत्मा दर्शनज्ञान**

अस्तित्ववाला प्रभु यह राग और पुण्य-पाप के अस्तित्व में एकत्वरूप स्वीकारता, यह एक में दोपना दूसरापना खड़ा हुआ। स्वसमयपना और परसमयपना एक में दोपना (द्वैत) खड़ा हुआ। आहाहा ! इसमें कहीं - ऐसा नहीं कहा कि कर्म के उदय का जोर है उसी के अनुसार यहाँ पर में प्रवर्तता है, रागमें-द्वेषमें - ऐसा तो कहीं है नहीं। पर को तो निमित्त कहा है। निमित्त के आधीन होकर प्रवर्तता है। यह मोह तथा राग, द्वेष में प्रवर्तते, परसमय में गया वह स्वसमय में रहा नहीं। - ऐसा जाना जाता है। आहाहा ! - ऐसा स्वरूप है।

सोनगढ में - ऐसा है - ऐसा कई लोग कहते हैं किसका है यह ? (अमृतचन्द्राचार्य का) वस्तु का स्वरूप ही - ऐसा है वहाँ तू क्या कहेगा ? प्रभु कहते हैं। आहाहा ! जिसके स्वरूप में पुण्य और पाप नहीं, परंतु जिसके स्वरूप में दर्शन और ज्ञान है। आहाहा ! जिससे दर्शन-ज्ञान के स्वरूप का अस्तित्ववाला तत्त्व उसमें जो एकत्व हो तो वह उसी समय स्व को एकत्वरूप से जानता और स्व एकत्वपने परिणमता... जिससमय जानता उसीसमय परिणमता है, जिससमय परिणमे उसीसमय जाने। आहाहा !

और दूसरा आत्मा, अविद्यारूपी केले की गांठ जिसका मूल - ऐसा, मोह कर्म-जड़, उसके अनुभाग के अनुसार प्रवर्तता, जितना कर्म उदय आया तो (वह) उसी प्रमाण में प्रवर्ते - ऐसा नहीं कहा। उसके अनुसार स्वयं प्रवर्तता। आहाहा ! अपना जो चैतन्य स्वभाव है, दर्शनज्ञानस्वभाव है... उसरूप न प्रवर्तता, प्रवर्तता (कहा) तो वह भी प्रवर्तता है और यह भी तो वही भी प्रवर्तता है। वह निमित्त को अनुसरण करके हुये अपने परिणाम उसमें स्थित होता हुआ। आहाहा ! स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ, उसे, परसमय जान उसे परसमय कहें - ऐसा जाना जाता है आहाहाहा ! इसप्रकार जीव नामक पदार्थ को स्वसमय एवं परसमय - ऐसा द्विविधपना दो प्रकार रूप प्रगट होता है।

यह टीका का अर्थ हुआ... संस्कृत भाषा थी बहुत गंभीर... अमृतचन्द्राचार्य की टीका बहुत गंभीर !! जैसे मूल श्लोक (गाथा) गंभीर है, वैसी टीका भी गंभीर है। उसे समझने के लिये पक्षपात छोड़कर मध्यस्थ से, उन्हें जो कहना है उस प्रकार समझना। जिसप्रकार कहना है उसप्रकार समझना उसका नाम यथार्थ समझ कहा जाता है। आहाहा ! अपनी कल्पना से उसमें अर्थ निकालना तो बड़ी विपरीतता है। कितना लिया है इसमें !! यह भावार्थ में कहा जाता है।

भावार्थ :- 'जीव नाम की वस्तु को पदार्थ कहा है। वस्तु... वस्तु है यह जीव - ऐसा अक्षरों का समूह वह 'पद' है' पदार्थ है न ? पदार्थ की व्याख्या की, पदार्थ 'जीव' यह अक्षर है यह पद है, यह पद है और उसकी वस्तु है यह जीव है पदार्थ

यह अर्थ है पद+अर्थ 'जीव' दो अक्षर का पद है, जीव यह पद है और जीव वस्तु है वह उसका अर्थ (वाच्य) पदार्थ है। वस्तु है। पद का अर्थ वस्तु है पद उसे बताते हैं। आहाहा ! जीव ऐसे अक्षरों का (समूह) क्योंकि अक्षर होता है न... 'जीव' अर्थात् दो अक्षर है अर्थात् बहुवचन है। जीव - ऐसा अक्षरों का समूह इसलिये वह पद है। 'और उस पद से वह द्रव्य पर्यायरूप अनेकांतपना'... देखा ? आया था अंदर (टीका में) उत्पादव्यय और ध्रुव, गुणपर्याय जिसने अंगीकार किया है।

उस पद से जो द्रव्यपर्याय रूप... वस्तु और अवस्थारूप 'अनेकांतस्वरूपपना' अनेकांत है। द्रव्य भी है और पर्याय भी है। पर्याय नहीं - ऐसा नहीं। यह ११ वीं गाथा में है - पर्याय को असत् कही है तो उसे गौण करके, उसका लक्ष्य छोड़ने के लिए कहा है। जब पर्याय नहीं (तो) कार्य क्या ? यह सिद्ध (अवस्था) भी पर्याय है, मोक्षमार्ग पर्याय, मोक्ष पर्याय, संसार पर्याय, बंधमार्ग यह पर्याय है और वेदन पर्याय का है। संसारी को दुःख का वेदन पर्याय में है, मोक्षमार्ग के आनंद का वेदन पर्याय में है सिद्ध को पूर्ण आनंद का वेदन पर्याय में है। आहाहा !

पर्याय नहीं - ऐसा जो कहा है उसका अर्थ ? गौण करके उसपर से लक्ष्य छोड़ने के लिए और त्रिकाली को मुख्य करके निश्चय कहके, निश्चय कहकर करके - ऐसा नहीं, गौण करके व्यवहार, व्यवहार कहकर गौण किया - ऐसा नहीं... इसप्रकार निश्चय वह मुख्य - ऐसा नहीं, मुख्य वह निश्चय। क्योंकि, निश्चय तो तीनों निश्चय है द्रव्य, गुण और पर्याय-तीनों अपने लिये निश्चय है। 'स्वाश्रय वह निश्चय और पराश्रय वह व्यवहार' परंतु यहाँ तीनों अपने होनेपर भी मुख्य द्रव्य को करना है इसलिये मुख्य निश्चय कहा और पर्याय को गौण करना है इसलिये उसे व्यवहार कहा। आहाहा !

- ऐसा द्रव्य-पर्याय का जोड़ा है। वस्तु स्वतंत्र है, जिसे पर के साथ कोई संबंध नहीं। आहा ! वह द्रव्य पर्यायरूप अनेकान्त, अनेक धर्म स्वरूपपना है। द्रव्य धर्म भी उसका, पर्याय धर्म भी उसका, दोनों धारण कर रखे है। धर्म अर्थात्...? भाव-द्रव्यपना और पर्यायपना - ऐसा अनेकांत अनेक धर्म अर्थात् गुण अथवा अनेकपना यह 'निश्चय करने में आता है वह पदार्थ है।' द्रव्य और पर्याय दोरूप निश्चय करने में आता है वह पदार्थ है। अकेले द्रव्य का निश्चय करने में आता है और अकेली पर्याय (निश्चित की जाती है) - ऐसा नहीं। आहाहाहा !

'यह जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुवमयी सत्तारूप है' इस न्याय से प्रारंभ किया, जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय और ध्रुव स्वरूप है, अकेला ध्रुव स्वरूप है - ऐसा नहीं और अकेला उत्पाद-व्यय-पर्याय स्वरूप है - ऐसा नहीं। आहाहा ! उत्पाद-व्यय, उत्पाद पहले लिया, व्यय बाद में ध्रुव बाद में परंतु ऐसी एक सत्ता स्वरूप रहनेवाली वस्तु

है। उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप रहनेवाला पदार्थ है, दर्शन ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है, दर्शन ज्ञानमय स्वयं चेतनास्वरूप वह वस्तु। ज्ञातादृष्टामय वस्तु स्वरूप है चेतन पदार्थ।

‘अनंतधर्मस्वरूपद्रव्य है।’ पहले आगया है न भाई ! अनंत धर्म स्वरूप वस्तु एक है। अनंत धर्म, गुण, पर्याय अनंत होने पर भी वस्तुरूप में द्रव्य एक ही है। अनंतशक्ति स्वरूप पदार्थ है। एक ही शक्ति है, संख्यात-असंख्यात शक्ति है - ऐसा नहीं, अनंत शक्ति स्वरूप वह द्रव्य है।

‘द्रव्य होने से वस्तु है... द्रव्य होने से वस्तु है। यह इस वस्तु की बड़ी चर्चा एक बार चली थी। राजकोट सम्वत् १९८९ में एक वीसाश्रीमाली श्वेताम्बर राणपुर से आये थे। अध्यात्म थोड़ा पढ़ा होगा। फिर आत्मा, वस्तु न कहलाये। आत्मा को कहें। सम्वत् १९८९ की साल राजकोट चौमासा था न। वहाँ वह आये। तब कुछ समझते नहीं थे ! आत्मा को वस्तु न कहलाये। आत्मा को कहें। सम्वत् १९८९ की साल राजकोट चौमासा था न। बाहर वह आये तब कुछ समझ बिना के ! आत्मा तो वस्तु न कहलाय कहे, बड़ी चर्चा हुयी थी। हमने कहा वस्तु कहलाये। वस्तु है, आते थे, व्याख्यान में बैठते थे, लगभग राणपुर के थे देरावासी श्वेताम्बर युवान उसे - ऐसा लगता था कि हम कुछ जानते हैं। आत्मा का ढोंग था।

‘द्रव्य होने से वस्तु’ वस्तु क्यों ? अंदर शक्तियाँ अंदर बसी हुयी हैं, इसलिये वस्तु कहलाती है, एक ही चीज है तथा एक ही गुण है तथा एक ही पर्याय है - ऐसा नहीं। अनंतगुण अनंती पर्याय जिसमें बसी है। इसलिये उसे द्रव्य, वस्तु कहा जाता है। आहाहाहा !

‘गुणपर्यायवाला है’ अंगीकार किया है - यह आया था न ? गुणपर्याय जिसने अंगीकार किये हैं। आत्मा में त्रिकाली गुण भी हैं और वर्तमान पर्याय भी है। गुणपर्यायवाला यह तत्त्व है... उसकी पर्याय के लिये अस्तित्व के लिये दूसरे तत्त्वों को लेकर यह पर्याय है - ऐसा नहीं... चाहे अविकारी कि विकारी हो परंतु यह गुणपर्यायवाला पदार्थ स्वयं स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। आहाहाहा ! गुणपर्यायवाला है।

‘उसका स्वपरप्रकाशकज्ञान... आत्मा का स्वपरप्रकाशकज्ञान...’ अनेकाकार रूप एक है यह ज्ञान... अनेक ज्ञेयों को जाने, फिर भी उसके अनेकरूप में टुकड़े नहीं होते। अनेक को जाने फिर भी एकरूप ज्ञानरूप रहता है। आहाहा ! आगया है उसमें... आकारों का, यह आत्मा जो है, वह ज्ञान स्वरूप प्रभु है। प्रज्ञास्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रकाश चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु, यह चैतन्य पर को, अनेक अनंत पदार्थों को जाने, फिर भी वह पर पदार्थरूप होता नहीं। वह अनंत परपदार्थ को जाने इसलिये ज्ञान में अनंतखण्ड हो जाते हैं, अनंत ज्ञेयों को जानने पर यह ज्ञेयाकाररूप अनंत खण्ड

होते हैं - ऐसा नहीं। ज्ञान तो एकरूप ही रहता है, यह अनंत को जानते हुये भी एकरूप रहता है। आहाहा !

‘स्वरूप प्रकाशक ज्ञान अनेकाकार रूप एक है’ पर आया न उसमें ? अनेक पर को जानने पर भी स्वरूप तो एक ही है, पर्याय का धर्म है स्वपर प्रकाशक, अनंत पर को... अनंत, अपने अनंतगुण आदि दोनों को जानने पर भी एकरूप रहनेवाला है, ज्ञान के खण्ड और भेद नहीं होते। आहाहा ! यह ‘जीव’ नामक पदार्थ की व्याख्या करते हैं।

‘और वह जीव पदार्थ आकाशादि से भिन्न...’ आकाश, परमाणु जैसे यह भिन्न वस्तु है, भिन्न - ऐसा ही प्रभु ‘असाधारण चैतन्यगुण स्वरूप है’ जिसमें चैतन्यगुण असाधारण अर्थात् कि दूसरे द्रव्यों में नहीं, परंतु (स्वयंमें) दूसरा - ऐसा गुण नहीं - ऐसा असाधारण चैतन्यगुण स्वरूप है। उसके साथ अनंत गुण मिले हुये है। परंतु चैतन्य की मुख्यता से... कारण कि चैतन्य अपने को जाने, चैतन्य अन्य गुणों की सत्ता को जाने, दूसरे गुणों के अस्तित्व को दूसरे गुण नहीं जाने, जड़ के अस्तित्व को जड़ नहीं जानता, वह ज्ञान पर के अस्तित्व को जानता है, और पर तथा अपने ज्ञान सिवाय अनंत गुणों को भी जाने, इसलिये इसे मुख्य चैतन्यगुण स्वरूप असाधारण, (कहा है) दूसरा इस जैसा कोई गुण नहीं है। आहाहा ! यह तो जीव कैसा ? कि त्रस की दया पाले और दूसरे को सुख दे और दुःख दे और मारे ओर...जिलाये... यह जीव। यह ध्यान रखकर व्यापार करे, वह जीव, अज्ञानी ने मार डाला (अपने को)। आहाहा ! व्यापार में चतुर होकर होशियारी करके धंधा करे, दुकान को आगे बैठ कर चलाये, पांच पचास नोकर हो तों सब को कब्जे में रखे वह जीव ?

यहाँ कहते हैं यह तुम्हारी सभी बात गलत है। आहाहा ! जीव तो स्व को, पर को जाननेवाला जीव है। पर का कुछ करे कि पर की व्यवस्था करे वह जीव है ही नहीं। आहाहा ! यह होशियार महिलायें हो चावल बनायें, बड़ी पापड़ बनायें सेव बनाये सेव-सेव (सिमंड्याँ), होशियार हो तो पुडला अच्छा बनाये, बराबर तेल डालकर। यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य है, उसे प्रकाशे, उसे कर सके नहीं, आहाहा ! आत्मा के अलावा अनंत पदार्थ हैं उसका कुछ कर सके नहीं, परंतु उसे अपने में रहकर अपनी सत्ता से अनेक को जानते हुये भी ज्ञान एकरूप रहे, अनेक खण्ड खण्ड न हो - ऐसा उनका स्वभाव है। आहाहा ! ऐसी बात है।

‘और अन्य द्रव्यों के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं। क्षेत्र भले एक है। शरीर यहाँ रहे आत्मा यहाँ मिला हुआ (होने पर) भी यह शरीर शरीर में और आत्मा आत्मा में भिन्न है। यह (शरीर) तो माटी, जड़, धूल

है। आहाहा ! अरे उसे कहाँ खबर है। मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ उसमें एक के बाद एक, अंधों की दौड़ की तरह, जन्मने के बाद बालक और युवान और वृद्ध फिर मर जाय और फिर जाओ दूसरे भव, होगया फिर वहाँ जन्म की लाईन चली। एक के बाद एक, एक के बाद एक जन्म-मरण, जन्म-मरण, जन्म-मरण की लाइन लगी है अनादि से आहाहा !

वस्तु की खबर नहीं। एक क्षेत्र होनेपर भी अपने में स्थित है। (आहा ! है न) '- ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है, जब वह अपने स्वभाव में स्थित हो तब तो स्वसमय है' परस्वभाव-राग, द्वेष, मोह रूप होकर रहे, तब 'पुद्गल कर्म के प्रदेश कहा' था उसका अर्थ ही राग, द्वेष, मोह किया। टीका में भी आगया है। आहा ! 'परस्वभाव, राग-द्वेष-मोह रूप होकर रहे तब पर समय है।

इस प्रकार जीव को द्विविधपना आता है। एक वस्तु को दोपना ऐसे आता है। वह दोपना शोभायमान नहीं है। यह विशेष कहेंगे... (प्रमाण वचन गुरुदेव !)

